विनाश हो जाता है। इसी से तो आपका नाम 'स्मर-हर' हो गया है, आप विषयों की उत्कण्ठा के हरण करने वाले हैं। उत्कण्ठा को विनष्ट कर आप उस मनुष्य के अशांत चित को पुनःशांति प्राप्त कराने से ही 'शंकर' हैं। 'नमः शंकराय च' मनुष्य शांति प्राप्त कराने वाले आपके चरणों में नत-मस्तक होता है। इस आपकी शरण में आये हुए पुरुष पर काम का बस नही चलता इस काम रूपी पक्षी के सब पंख, आपके ज्ञानरूपी सूर्य के समीप पहुंचते ही जल जाते हैं और उस पक्षी की उड़ान समाप्त हो जाती है।'

बस इस काम के आक्रमण से बचने का एक मात्र उपाय ईश-चिन्तन ही है। हृदय में ईश्वर का निवास होने पर इस काम का वहां रहना संभव नहीं रहता। है तो यह भी 'मनसिज' =मन के अन्दर ही अन्दर होने वाला। इसकी उत्पत्तिही मनुष्य के अंदर-आभ्यंतर में होती है और इसीलिये इसे 'आत्म-भू कहा गया है। पर उस हृदय में ईश के उपस्थित होने पर यह काम उसके ज्ञान-नेत्र से भस्म कर दिया जाता है।

५. कांटों के स्थान में फूल (सवितः)

इस प्रकार परमेश्वर अपने भक्त के हृदय में काम का विध्वंस कर उत्तम दिव्य भावनाओं को जन्म देने की भूमिका बनाते हैं। वह 'सवितर' हैं। दिव्य भावनाओं के बीज का सवन (सु=Sow=बोना करने वाले हैं। इस भक्तकी मनो-भूमि

पर हमारे साथ स्थित हुवा २ (समान वृत्त परिषस्वजाते) अन्तः प्रेरणा द्वारा, तथा अपने विषयों का भोग न करने (अनश्नन) क्रियात्मक उदहरण द्वारा हमें सदा शांति पूर्वक धर्म में प्रवित्त करने में लगा रहता है।

हम उसकी प्रेरणा को नहीं सुनते, परवह हमारा सच्चा मित्र नाराज नहीं होजाता। थोड़ा बहुत भी जो हम उसकी प्रेरणा अनुसार चल देते हैं उसके लिये उत्तम बस्तुओं को हमें प्राप्त कराके उस शुभ मार्ग पर चलने के लिए हमारी और अधिक रुचि पैदा करने का प्रयत्न करता है।

भेद, दण्ड

कभी कभी जब साम दान से काम नहीं चलता तो हमें वह प्रभु ऐसी परिस्थति में पैदा करता है कि हम औरों को शुभ मार्ग पर चलने के फल के रूप में उन उत्तम पदार्थों का उपयोग करते देखते हैं। जिनसे कि हम वंचित हैं। इस भेद नीति (-विषमता) से वह परमेश्वर हमारे अन्दर भी उस मार्ग पर चलने की भावना को जागरित करना चाहता है जिस पर कि वे दूसरे लोग कुछ चले हैं।

परन्तु जब यह उपाय भी विफल हो जाता है तो अन्त तो गत्वा (-लाचारी में) वह हमारा सच्चा मित्र आधि-व्याधि-निर्धनता आदि के रूप में हमारी ताड़ना भी करता है। दण्ड द्वारा हमारी अशुभ प्रवित्तियों का दमन उसके लिए आवश्यक होजाता

है। कभी वृक्ष की योनि में पैदा कर हमें एक जगह पर वह बांध देता है, और कभी पशुयोनि में पैदाकर हमारे दृढ़मूल अशुभ स्वभाव को भुलाने का यत्न करता है। एवं सभी उपायों द्वारा हे प्रभो आप हमें दुरितों से दूर करें।

१० भद्रम्

प्रभु कृपा से मान लीजिये कि एक व्यक्ति दुरितों से दूर हो जाता है दुरितों को हटा के उनके स्थान में भद्रका उत्पादन भी आवश्यक है। जो हमारी चित्तभूमि अशुभ प्रविति वास के लिए खूब उपजाउ बनी हुई थी, उस भूमि से उस घस को केवल उखाड़ देने से काम न चलेगा। यदि उसके स्थान में किसी अन्य शुभ-गुण रूप अन्न को उत्पन्न न किया जाय तो वह घास तो उस भूमि में अवश्य पुनः उत्पन्न हो जायगी। इसलिए दुरित को नष्ट कर उसके स्थान में भद्र को आप पैदा कीजिए। अवगुणों दूर करना यह खण्डनात्मक कार्य है, उसके बाद गुणोत्पादन रूप माण्डनात्मक कार्य भी आवश्यक है। अवगुणों के ऊंचेनीचे टीलों को विनष्ट कर उस सम भूमि पर गुणों के भवन का निर्माण भी जरूरी है।

११ नः

भद्र शब्द का अर्थ शुभ-better-उत्तम के साथ २ कल्याण भी है शुभ के अवलम्बन का परिणांम कल्याण-प्राप्ति है ही। परन्तु उस कल्याण को हमें केवल अपने लिए नहीं चाहना है। मन्त्र में "नः" (-हम सबको शब्द का प्रयोग कल्याण के संविभाग पूर्वक उपयोग का आदेश कर रहा है। कल्याण को केवल अपने

लिये चाह कर मनुष्य स्वार्थी बन जाता है। इस स्वार्थ (Selfishness) के आते ही पुनः अशुभ प्रवृत्तियों का विजय होने लगता है, और सारा किया कराया मट्टी में मिल जाता है। सो भद्र मार्ग पर चलने वाले को कल्याण का उपभोग बांट कर ही करना चाहिये। इस परार्थ से ही वस्तुतः वह अपने सच्चे स्वार्थ को सिद्ध कर सकता है।

१२. नारायण

एवं, प्रत्येक मनुष्य के कल्याण की भावना से जब यह प्रवृत्त होगा तब सभी पीड़ित मनुष्य इसकी शरण में आयेंगे। दुःखी मनुष्य-समूह=(नार) का (अयन)=शरण स्थान होने से यह इस मन्त्र का ऋषि 'नारायण' कहलायेगा। इसके जीवन का उद्देश्य औरों को भी अशुभ दोषों से पृथक् कर शुभ गुणों का पाठ पढ़ा, उन्हें मंगल प्राप्त कराना हो जायगा।

१३. यत्-तत्

यह उस प्रभु से सदैव इसी रूप में प्रार्थना करेगा कि "यत्=जो भद्र है 'तत्=उसे आप हमें प्राप्त कराईये।' 'हमारे लिए क्या शुभ है' यह भी तो हे प्रभो! आप ही जानते हैं। हम तो अपनी अल्पज्ञता वश अनर्थ को अर्थ समझ रहे होते हैं। ठोकर लगाकर चेताने वाली आपत्ति को हम अवाञ्छनीय समझ घबरा उठते हैं। हमारे लिये 'भद्र' को तो ठीक २ आप ही समझते हैं। सो जो भी हमारे लिये हितकर हो उसे आप हमें प्राप्त कराईये।"

ओ३म्

प्रभु की झांकी

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(यजुर्वेद २३.१)

हिरण्यगर्भः— वह ज्ञानमय=ज्ञानधन परमेश्वर ।

अग्रे — आगे अर्थात् बनने से पहले ही ।

समवर्तत — था, (अर्थात् वह कभी बना नहीं, सदैव से है)

जातः — (यह सदा से) प्रकट हुआ २ अथवा ऊंचे से ऊंचे विकास को प्राप्त हुवा २, (परमेश्वर)

भूतस्य — प्राणि मात्र का ।

पतिः — रक्षक है, (और इसी लिये) ।

एकः — गतिशील है अथवा प्राणियों को सुख के लिये प्राणशक्ति का मुख्य दाता (इण्=गतौ)

आसीत् — है ।

पृथिवीं, द्याम्, उत, इमां—अन्तरिक्ष को, द्युलोक को और, इस (पृथ्वी) को ।

स, दाधार — वह (परमेश्वर ही), धारण कर रहा है।

कस्मै — (उस) सुख-स्वरूप।

देवाय — दिव्य गुण युक्त परमेश्वर के लिये।

हविषा — (प्राजापत्य यज्ञ में लोक रक्षा के लिये) अपने जीवन की आहुति द्वारा।

विधेम — पूजा को करें।

१. मन्त्र का विषय

इस मन्त्र में यह वर्णन है कि किस प्रकार परमेश्वर सर्व-भूत रक्षा के लिये पूर्ण निःस्वार्थ भाव से प्रवृत्त हो रहा है, और हमें भी उसका अनुकरण करते हुए किस प्रकार यज्ञमय जीवन बिताना चाहिये।

२. हिरण्यगर्भः

वह परमेश्वर क्या है? इस प्रश्न का उत्तर हम इन्हीं शब्दों में दे सकते हैं कि 'हिरण्य ही हिरण्य उसके गर्भ में है'। "हिरण्यं वै ज्योतिः"=हिरण्य नाम है। ज्योति का ज्योति को—ज्ञान को—हिरण्य इसलिये कहा कि यह सम्पूर्ण दुःखों का हरण करने वाला है। 'हृ' धातु का अर्थ हरण करना=दूर करना है। हिरण्य शब्द को 'हर्य' धातु से भी बना सकते हैं, इसके अर्थ गति और कान्ति हैं। गति शब्द ज्ञान वाचक होता ही है।

गति के तीन अर्थ माने गये हैं--ज्ञान, गमन और प्राप्ति। 'अवगच्छति' का अर्थ तो होता ही यह है कि 'जानता है'। निरुक्त में हिरण्यं की व्युत्पत्ति 'हित-रमणीयम्' की है। ज्ञान ही अन्ततोगत्वा एक मात्र हित साधक है और ज्ञान ही वस्तुतः रमणीय है--अन्य सांसारिक पदार्थ तो शुरू २ में रमणीय प्रतीत होते हैं। एवं हिरण्य ज्ञान का वाचक है।

यदि परमेश्वर का विश्लेषण (Analysis) संभव हो तो हम वहां ज्ञान ही ज्ञान कूट २ कर भरा हुआ पायेंगे। ज्ञान को छोड़ कर वहाँ कुछ भी न मिलेगा। वेदान्त भी 'विशुद्धा-चित्' शब्द से ब्रह्म को कहता हुवा यही तो कह रहा है कि वह परमेश्वर ज्ञानरूप ही है। इस ज्ञान रूपता के कारण ही वह परमेश्वर पूर्ण-निष्काम है। ज्ञान से कामना का ध्वंस हो जाता है। जब ज्ञानाग्नि मन्द होती है तो काम रूपी रस=द्रव उसे बुझा देता है परन्तु जब यह ज्ञानाग्नि तीव्र=प्रचण्ड हो जाती है तो वह कामरस को वाष्पीभूत (Evaporate) कर देती है। जीव और परमेश्वर में यहीं तो अन्तर हैं कि जीव की ज्ञानाग्नि मन्द है--वह काम से आक्रान्त हो जाती है। पर परमेश्वर की ज्ञानाग्नि प्रचण्ड है, उसमें काम का दहन हो जाता है।

३. अग्रे, समवर्तत

यह ज्ञान-धन परमेश्वर अग्रे=बनाने से पहले ही था। सृष्टि के प्रारम्भ से पूर्व ही इसकी सत्ता थी, अर्थात् यह बना नहीं,

सदा से स्वयं ही बहा चला आ रहा है; वह 'स्वयं-भू' है खुद आया हुआ 'खुदा' है। इसका कोई बनाने वाला नहीं। स्वयं अ-शरीर होता हुआ यही सब के शरीरों का निर्माण करने वाला है। यदि इसका भी शरीर बना होता तो इसका बनाने वाला कोई और ईश्वर होता, न कि यह स्वयम्। कह सकते हैं कि इस ने अपना शरीर भी स्वयं बनाया। परन्तु ऐसी कल्पना करें तो बनाने का प्रयोजन ही प्रतीत नहीं होता। बिना शरीर के यदि यह अपने शरीर को बना सकता है तो ब्रह्मांड को भी बना ही सकता है। साथ ही, स-शरीर होने पर यह साकार हो, अव्यापक हो जायेगा, और फिर सर्वद्रष्टा-सर्वज्ञ व न्याय-कारी न हो सकेगा। यह भी जरूरी है कि सशरीर होने पर यह क्षुधा तृषा व शीतोष्ण से पीड़ित होने लगे। बनी हुई चीज़ में wear and tear=घिसावट के कारण repair=सुधार की आवश्यकता होती है उसी के लिये क्षुधा तृषा लगती है और वह सामग्री शरीर में पहुँच जाती है जो कि क्षति-पूर्ति के लिये आवश्यक होती है। शरीर होने पर यह स्थूल परमेश्वर सूक्ष्म प्रकृति को ग्रहण कर उससे ब्रह्माण्ड का निर्माण भी न कर सकेगा। अतः परमेश्वर को अ-शरीर ही होना चाहिये। अ-शरीर परमेश्वर ही में सब इन्द्रियों के कार्य करने की सर्वत्र शक्ति है। उसका शरीर न है, न शरीर की आवश्यकता है। वह स्वयं सदैव से है, था और रहेगा। वह कभी बना नहीं।

४. जातः

कभी न बनने और सदा से इसी प्रकार हुए होने के कारण ही यहां परमेश्वर को 'जातः' शब्द से कहा गया है। जन् धातु से यह शब्द बना है, और इसका अर्थ, 'प्रादुर्भूत होना' है। इस शब्द का एक और अर्थ 'विकसित होना' भी है। वह परमेश्वर अधिक से अधिक विकास को प्राप्त हुआ २ है। प्रत्येक गुण की उसमें चरमसीमा है। प्रत्येक गुण उस में absolute=निरपेक्ष रूप में विद्यमान है। किसी और का उससे अधिक उत्कृष्ट होना संभव ही नहीं।

५. भूतस्य, एकः, पतिः

यह सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर प्राणिमात्र के हित के लिये प्रकृति से सृष्टि का निर्माण करता है। उस सृष्टि में जीवों को, उनके कर्मानुसार, अधिक से अधिक हितकर उपयुक्त शरीरों को प्राप्त कराता है। उसको तो चूंकि सब कुछ सदा ही प्राप्त है, इससे स्वयं आप्तकाम होने से उसे अपने लिये कुछ भी करना नहीं होता। वह प्रतिक्षण भूतमात्र की रक्षा में प्रवृत्त रहता है इसी रक्षा के निमित्त से ही वह एकः (इण् गतौ)=गति=प्रवृत्ति वाला है। उसके रक्षण का प्रकार भी 'एकः' शब्द से बड़ी सुन्दरता पूर्वक सूचित किया जा रहा है। इस शब्द के तीन अर्थ हैं (१) केवल (२) अन्य, तथा (३) मुख्य। वह परमेश्वर भूतमात्र को (के=सुखे, वलयति=प्राणयति) सुख के

निमित्त प्राणित करता है वह अन्य है, अनयति=प्राणयति=प्राण शक्ति को देने वाला है। यह प्राणशक्ति ही मनुष्य के सब दुःखों को दूर करने का साधन हो जाती है। वैद्य रोगी को औषध देता है, उस औषध में भी तो उसी परमेश्वर ने सूर्यकिरणों द्वारा प्राणशक्ति को रखा है। इस प्रकार मुख्य रक्षक वह प्रभु ही है। जब तक वह प्राणशक्ति रहती है तब तक मृत्यु का आक्रमण नहीं हो पाता। सभी इस प्राणशक्ति से सुरक्षित रह कर अपनी उन्नति का साधन कर पाते हैं।

६. स, दाधार

साधारणतया देखने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस पृथ्वी पर हम उत्पन्न हुए हैं, इसी ने हमें जन्म दिया है। "पृथिव्याः ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नं, अन्नाद् रेतः रेतसः पुरुषः"=अर्थात् पृथ्वी से ओषधियें, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य, और वीर्य से पुरुष हो जाता है, यह उपनिषद् वाक्य भी पृथ्वी को जन्मदात्री कह रहा है। "सानो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः"=वह भूमि-माता मुझ पुत्र को दूध प्राप्त करावे। यह अथर्व (१२. १) वाक्य तो स्पष्ट पृथ्वी को ही हमारी माता कह रहा है। "माता भूमि, पुत्रोऽहं पृथिव्याः=पृथ्वी माता है, और मैं उसका पुत्र हूँ यह भावना वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों में उपलभ्य है।

इसी प्रकार द्युलोक सूर्याकर्षण द्वारा जलों को अन्तरिक्ष

में पहुँचा कर फिर भूमि पर बरसा देता है; उसी से पृथ्वी पर ओषधियों की उत्पत्ति होती है। और इस प्रकार द्युलोक प्राणियों की रक्षा का कारण बनता है। रक्षक होने से यह द्युलोक ही पिता है। संस्कृत का द्यौष्पितर्, इंग्लिश का Jupiter, तथा लेटिन का zeus pater इसी भावना को व्यक्त कर रहा है ऋग्वेद १-१६१ में "द्यौर्नः पिता पृथिवी माता" इन शब्दों में द्युलोक को पिता तथा पृथ्वी को माता कहा है।

ऐसी स्थिति में उन्हीं को तो अपना रक्षक मानना चाहिये। परमेश्वर को रक्षक मानने की क्या आवश्यता ? इस प्रश्न का उत्तर वेद में इस प्रकार दिया गया है कि वह परमेश्वर ही तो अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा पृथ्वीलोक का धारण कर रहा है। वही इनका पोषक है, वही इन का निर्माता है। इन लोकों के निर्माण व धारण द्वारा हमारा वास्तविक रक्षक तो वह परमेश्वर ही है।

७. कस्मै

यहाँ शंका होनी भी स्वाभाविक है कि जो परमेश्वर प्रति-क्षण प्राणि हित के लिये प्रवृत्त है, जो इन सब विशाल लोकों का धारण कर रहा है, वह स्वयं इस आयास=श्रम से पीड़ित होता ही होगा। इस शंका के निवारण के लिये ही 'कस्मै' शब्द का प्रयोग है। श्रम व कष्ट की बात तो दूर रही, वह परमेश्वर तो सुख स्वरूप है। वैसे तो अनन्त शक्ति वाले उस प्रभु को

आयास वा श्रम होता ही नहीं, परन्तु यह बात भी है कि कष्ट स्वार्थ में है । परार्थ में सुख ही सुख है । जो जितना भी पूर्णता की ओर अग्रसर होता है वह उतना ही परार्थ के लिये प्रवृत्त होता है। परमेश्वर पूर्णता तक पहुंचा हुआ है, सो वह पूर्ण रूप से परार्थ में प्रवृत्त है। स्वार्थ में राग है, राग में दुःख है। इसके विपरीत परार्थ में राग का अभाव है, सो वहीं दुःख का अभाव तथा सुख की स्थिति है।

८. देवाय

इतना ही नहीं, स्वार्थ में लोभ होने से स्वार्थ सब व्यसनों का मूल बन जाता है । तथा इसके विपरीत परार्थ में लोभ शून्यता के कारण सब व्यसनों का अभाव है। वहाँ ही देवत्व की उत्पत्ति होती है। जो जितना जितना निःस्वार्थ होता जायगा, उतना उतना वह दैवी संपत् को प्राप्त करता जायगा। परमेश्वर पूर्ण निःस्वार्थ है, सो पूर्ण रूप से देव है।

६. हविषा, विधेम

यदि हम उसकी पूजा करना चाहते हैं तो उसका वास्तविक प्रकार तो यही है कि हम भी उस परमेश्वर के उदाहरण को अपने सामने रखते हुए निष्काम बनने का प्रयत्न करें। निष्काम बन कर परार्थ साधन में लगें। प्राजापत्य यज्ञ=लोक संग्रह= सर्वभूतहित में अपने को हवी रूप बना डालें, वैदिक साहित्य में मानव जीवन का अन्तिम कर्तव्य यही तो है कि वह संन्यासी

बन जाय, काम्य कर्मों को छोड़ दे (काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः) प्राजापत्य इष्टि=लोक रक्षा के यज्ञ को अपना लक्ष्य बना कर अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति की उसमें आहुति दे दें और जहां तहां विचरता हुआ परोपकार में लगा रहे। (प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां सर्व वेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्=यजुर्वेद ब्राह्मणे)

१०. प्रजापति

जिस दिन मनुष्य इस स्थिति में पहुंच जायगा उस दिन वह प्रजा के रक्षण में प्रवृत्त होने से प्रजापति कहलायेगा। यही तो इस मन्त्र का ऋषि है । वह उस दिन परमेश्वर की सच्ची आराधना कर रहा होगा । उसकी तरह प्रजापति बनना ही तो उसका आदर करना है। यही तो उसकी सच्ची स्तुति है कि वह प्रजापति है; हम भी प्रजापति बन जायँ।

सूचना—इस मन्त्र में पृथिवी शब्द अन्तरिक्ष के लिये आया है, और इस पृथिवी का संकेत 'इमां' इस सर्वनाम से किया गया है।

☆

ओ३म्

प्रभु की सच्ची आराधना

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छाया अमृतं यस्य मृत्युःकस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यः, आत्मदा— जो (प्राणिमात्र के हित के लिये)अपने को दिये हुए है

बलदा — (जो) शक्ति को देने वाला है

विश्वे — (संसार में) प्रविष्ट हुए हुए (सभी जीव)

यस्य, उपासते— जिसकी उपासना करते हैं (परन्तु)

देवाः — विद्वान् लोग

यस्य, प्रशिषं— जिसकी, आज्ञा को (पालते हैं)

यस्य, च्छाया— जिससे किया गया छेदन-भेदन अर्थात् दण्ड (और)

यस्य, मृत्युः— जिससे प्राप्त कराई गई, मृत्यु (भी)

अमृतम् — जीव की अमरता के लिये है

कस्मै, देवाय— (उस) सुख स्वरूप, सुख को देने वाले प्रभु की

हविषा,विधेम— आत्मदान द्वारा, पूजा करें ।

१. आत्मदा

इस मन्त्र में परमेश्वर की उपासना के प्रकार का वर्णन है तथा इस प्रश्न की बड़ी सुन्दर व्याख्या है कि—"संसार में दुःख व मृत्यु क्यों है ?" मन्त्र का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि वह प्रभु 'आत्म-दा' है। वह परमेश्वर पूर्ण निःस्वार्थ भाव से प्राणियों के उपकार के लिये सृष्टि का निर्माण करता है, धारण करता है और अन्त में विश्राम देने के लिये प्रलय रूप रात्रि को लाता है। सृष्टि में प्राणियों को कर्म व योग्यता के अनुसार उचित साधन प्राप्त कराता हुआ उन्नति के योग्य बनाता हैं। उस प्रभु ने अपने लिये कुछ भी नहीं करना, उसकी तो एक एक क्रिया प्राणि हित के लिये हैं, मानो उसने अपने को जगत् के उपकार के लिये दिया हुआ हैं (आत्मानं ददाति)। उसके वास्तविक भक्त महापुरुष भी उसी की तरह अपने को जनता के हित के लिये अर्पित कर दिया करते हैं। स्वयं नानाविध कष्टों को झेलते हुए अपने जीवन की वे प्राजापत्य यज्ञ में आहुति दिया करते हैं। ये महापुरुष ही "न-र" स्वार्थ में न रमने वाले और जनता को आगे और आगे ले चलने वाले हुआ करते हैं (नृ=नये=ले चलना)।

२. बलदा

उस परमेश्वर का अपने सखा जीव की सहायता करने का प्रकार भी क्या ही अच्छा है। वह जीव को बल प्राप्त करा

देता है। उसके अन्दर शक्ति का आधान कर स्वयं उसे ऊपर उठ सकने के योग्य बनाता है। हाथ पकड़ कर चलाने या गोद में उठाकर स्थानान्तर में ले जाने की बजाय उसमें चलने की योग्यता पैदा कर देना कहीं अच्छा है। एक छात्र के लिये यह अधिक हितकर है कि प्रश्न को स्वयं हल करके दे देने की बजाय अध्यापक उसे वह नियम अच्छी प्रकार समझा दे जिससे कि विद्यार्थी उस प्रकार के प्रश्नों को स्वयं हल कर लिया करे। एक माता इस भय से कि कहीं बच्चा गिर न पड़े, यदि उसे कभी चलने ही न दे तो बच्चे में कभी भी चलने की योग्यता पैदा न होगी। बच्चा पंगु रह जायगा, माता की दया बच्चे के लिये क्रूरता सिद्ध होगी। इसी लिये परमेश्वर की सहायता का प्रकार बल देना=योग्यता को पैदा कर देना है। इससे आगे बढ़ता हुआ जीव गिरता भी है, उसे चोटें भी आती हैं। उस समय यही विचार आता है कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर एकदम स्वयं क्यों नहीं जीव को उन्नत कर देता? परन्तु यदि वह ऐसा कर दे तो जीव तो पंगु ही बना रहेगा, उसमें स्वयं अग्रगति की कभी योग्यता पैदा न होगी। यदि एक अध्यापक अपने विद्यार्थी की परीक्षा लेता हुआ, स्वयं ही सब प्रश्नों को हल कर दिया करे तो बाह्य दृष्टि से ऊपर की श्रेणी में पहुँचता हुआ भी विद्यार्थी क्या वस्तुतः कभी उन्नत हो पायेगा। "बलदा" शब्द सहायता के आदर्श प्रकार को व्यक्त कर रहा है। एक भिखमंगे को दो पैसे दे देना उसकी वास्तविक सहायता नहीं

है। 'उसे अपनी आजीविका कमाने के योग्य बना देना' यही सहायता का ठीक प्रकार है। अपाहज व्यक्ति भी बैठे २ कई उत्पादक कार्यों को कर सकते हैं। उनकी भी सहायता राष्ट्रीय उन्नति के दृष्टिकोण से यही है कि राजा उनके लिये उचित आश्रम बनवा, उनके योग्य कार्य उन्हें सिखलाये और उनके अन्दर भी उत्पादक श्रम की योग्यता पैदा करे।

३. यस्य, विश्वे उपासते

अस्तु, कुछ भी हो, संसार में जो भी प्राणी प्रविष्ट होते हैं (विशन्ति इति विश्वे) वे सब के सब अन्ततोगत्वा उसकी शरण में आते हैं। जब संसार में अन्य किसी को अपना सहायक नहीं पाते, तो उस समय उस प्रभु को याद करते हैं। कट्टर से कट्टर नास्तिक भी भूखे मरने पर या असाध्य रोग से आक्रान्त होने पर उसका ध्यान करते हैं, उसके नाम पर दान देते हैं। पीरों को, सन्तों को, गुरुओं को व अर्हतों को किसी को भी वे पूजें उनकी पूजा के द्वारा वे उसी प्रभु को पूज रहे होते हैं। "येऽप्यन्यदेवताभक्ताः यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्" (गीता ९·२३) यह पूजा विधि पूर्वक तो नहीं है, परन्तु है तो उसी प्रभु की। उस प्रभु की पूजा के संसार में जो भी प्रचलित मार्ग हैं, वे भिन्न २ होते हुए भी सब उस प्रभु की ओर ही जा रहे हैं। "तं वर्तनिरनुवावृत एकमित् पुरु" इन सब मार्गों का लक्ष्य वही एक प्रभु है।

४. प्रशिषं, यस्य, देवाः

जैसे कुछ विद्यार्थी एक प्रश्न को हल करते हैं, उनमें से एक का उत्तर ठीक है, औरों के उत्तर अशुद्ध हैं और परस्पर भिन्न २ हैं। ये शुद्ध और अशुद्ध उत्तर यद्यपि हैं तो उस ही प्रश्न के, परन्तु उन अशुद्ध उत्तरों से विद्यार्थी श्रेणी में उत्तीर्ण नहीं हो सकते। इसी प्रकार संसार में आये हुए सारे प्राणी भिन्न २ देवताओं की विविध ढंगों से उपासना करते हुए, कर तो उस प्रभु की ही उपासना रहे हैं, परन्तु इस उपासना से भवसागर को तैरना संभव नहीं। प्रभु की उपासना का ठीक प्रकार तो यह है, कि 'हम उस परमेश्वर से दिये गये आदेश को, उससे नियत किये गये कर्म को करने में तत्पर हों। यही बुद्धिमत्ता है। विद्वान् लोग गीता के "स्वकर्मणा "तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" इन शब्दों के अनुसार अपने सहज= नियत कर्म को करने के द्वारा उसकी उपासना करते हैं, और इस प्रकार भवसागर को तैरने में सफल होते हैं।

उदाहरणार्थ, आचार्य दयानन्द की भक्ति दो प्रकार से हो सकती है एक तो प्रति क्षण आचार्य के गुणानुवाद करते रहने से तथा दूसरे उनकी वतलायी आचार पद्धति को अपने जीवन में अनूदित करने से। यह अत्यन्त स्पष्ट है कि आचार्य अपने पिछले भक्त से ही प्रसन्न होंगे और वास्तविक लाभ भी उसे ही होगा। आचार्य दयानन्द ने ११ वें समुल्लास में प्रभु के नाम-

स्मरण का सच्चा प्रकार यही दिया है कि "जैसे परमेश्वर न्याय-कारी है, उसी प्रकार स्वयं न्यायकारी बनना, नकि न्यायकारी न्यायकारी यह जपते रहना।"

सो, सामान्य संसार तो एक आर्तभक्त के समान किसी कष्ट के आने पर उस प्रभु को याद करने लगता है। परन्तु ज्ञानी-भक्त प्रतिक्षण अपने को परमेश्वर जैसा बनाने का प्रयत्न करता है। उसकी नहीं, अपितु उसकी आज्ञा की उपासना करता है। और इस प्रकार यह ज्ञानी भक्त उसकी आत्मा=उसका अत्यन्त प्रिय बनने का प्रयत्न करता है। विश्व=सारी दुनिया इस प्रभु का आर्तभक्त है; देव=विद्वान् उसके ज्ञानी भक्त हैं। विश्व की भक्ति बहिरंग=दिखावटी है, देवों की भक्ति अन्तरंग=वास्त-विक है।

५. यस्य च्छाया, यस्य मृत्युः, अमृतम्

विश्व आपत्ति में घबरा जाता है, पर देव आपत्ति में भी उस प्रभु से ली जारही परीक्षा का अनुभव करता है। धन-नाश पहली परीक्षा है, नवयुवक होनहार सन्तान का गुज़र जाना दूसरी परीक्षा है, तथा शारीरिक तीव्र पीड़ा तृतीय कष्ट है। परमेश्वर ने यह तो जानना ही है कि तुम वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा (लोक में बने रहने की इच्छा) से ऊपर उठ गये हो या नहीं। यद्यपि परमेश्वर बिना परीक्षा के भी यह जानता है तो भी उसके आपत्ति के सहने के धैर्य को देख

अन्य लोक भी प्रभावित होते हैं। श्री स्वामी दयानन्द को अंतिम कष्ट को आनन्द से झेलते हुए देख कर पं० गुरुदत्त पर क्या ही उत्तम प्रभाव पड़ा। आचार्य का जीवन लोकहित में लगा, उसका मृत्युक्षण भी जनहित के लिये अर्पित हुआ। अस्तु,

एक देव पुरुष तो यही समझता है कि उस प्रभु का=उस प्रभु से दिया हुआ छेदन-भेदन (छाया शब्द 'छो-छेदने' से बनता है)=कष्ट व आपत्तियां तथा उसकी=उससे प्राप्त करायी हुई मृत्यु भी अमृत है—जीव की अमरता के लिये ही है, ये सब जीव की उन्नति के साधन ही हैं। कर्मफल के रूप में भी ये कष्ट परमेश्वर इसीलिये प्राप्त कराता है कि जीव की चित्तवृत्ति पुण्यनदी में प्रवाहित होने लगे। उसका स्वभाव संस्कृत व परिष्कृत हो जाय। उथली दृष्टि से देखने पर ये कष्ट परमेश्वर में पक्षपात व क्रूरता रूपी दोष की स्थिति को अनुभव कराते हैं। परन्तु एक विद्वान् समझता है कि ये सब कष्ट भी उपयोगी हैं, उसकी योग्यता बढ़ाने के लिये आवश्यक हैं। 'बच्चा रोयेगा' सो क्या उसकी समझदार माता उसका मुंह धोने से रुक जाती है—अथवा क्या मुंह धोने पर बच्चे के रोने लगने से माता को क्रूर समझा जाता है? इसी प्रकार एक बीमार तथा दूसरे स्वस्थ बच्चे को क्रमशः कड़वी दवाई तथा मिठाई खिलाती हुई माता क्या पक्षपात दोष युक्त होजाती है? इसी प्रकार वह जगज्जननी भी विषमता व क्रूरता के दोष से रहित है—प्राणिमात्र के हित के लिये ही उसका यह सारा छेदन-भेदन व मारण है। यह सब

जीव को अमरता प्राप्त कराने के लिये है। इससे प्रभु को हिंसा का पाप नहीं लगता, वस्तुतः तो यह हिंसा है भी नहीं।

६. कस्मै देवाय०

इसलिये परमेश्वर किसी भी प्रकार के पाप से रहित होने से शुद्ध है। शुद्ध होने के कारण ही वह आनन्दमय है। इसी आनन्द को वह अपने सखा जीव को भी प्राप्त कराने में लगा है, और इसीलिये आनन्द को देने वाला होने से वह देव है (देवो दानात्)।

हम भी उस देव की प्राजापत्य यज्ञ में हवीरूप बनकर पूजा करें। उसकी सच्ची पूजा तो है ही यह कि हम भी उसके पद-चिह्नों पर चलें। वह आत्म-दा है, उसने प्राणिमात्र के हित के लिये अपने को दिया हुआ है। हम भी जनहित के लिये अपने तन-मन-धन को अर्पित करदें। यही इस मन्त्र के ऋषि प्रजापति बनने का प्रकार है—यही उस प्रभु की सच्ची पूजा है।

ओ३म्

मनुष्य व पशु में भेद

य: प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पद: कस्मै देवाय हविषाविधेम ॥

(यजुर्वेद २५. ११)

प्राणत: — प्राणों को धारण करने वाले अर्थात् प्राण-शक्ति सम्पन्न, (तथा)

निमिषत: — चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार करने वाले अर्थात् सोच कर काम करने वाले ।

जगत: — क्रियाशील (मनुष्य) जगत् के,

य:, महित्वा — जो, महिमा=सर्वव्यापकता के कारण

एक:, इत् — अकेला, ही

राजा — (हृदयों में ज्ञान का) प्रकाश करने वाला

बभूव — है, (और)

य:, अस्य — जो, इस

द्विपद:, चतुष्पद: — क्रिया प्रधान पशुपक्षिओं के (अन्दर) । (पक्षी-दो पांव वाले, पशु=चार पांव वाले)

ईशे	— वासना (Instinct) के रूप में ऐश्वर्य को रखने वाला है।
कस्मै, देवाय	— (उस) आनन्द स्वरूप, (हृदयों को) ज्ञान से द्योतित करने-वाले देव के लिये
हविषा	— (ज्ञानयज्ञ में अपनी) आहुति देते हुए
विधेम	— पूजा करें।

१. प्राणतः, निमिषतः

इस मन्त्र में पशु व मनुष्य के भेद को व्यक्त करते हुए यह स्पष्ट किया है कि परमेश्वर प्राणियों का हित साधन किस प्रकार कर रहा है। पूर्वार्ध में मनुष्यों का उल्लेख है, तथा उत्तरार्ध के शुरू में पक्षियों व पशुओं का। पूर्वार्ध में मनुष्यों के दो प्रधान कर्तव्यों का संकेत भी किया गया है। "प्राणतः" शब्द इस कर्तव्य का संकेत कर रहा है कि उन्होंने अपनी प्राणशक्ति को पुष्ट करना है, उसकी स्थिरता से ही वे अपनीं जीवन यात्रा में सफल हो पायेंगे। अहित, अ-मित=(न मपा तुला) व असमय भक्षण तथा असंयम का परिणाम प्राणशक्ति का विनाश है, मनुष्य को चाहिये कि वह इन अनियमों से दूर रहता हुआ वीर्य के धारण व पोषण से अपने जीवन व प्राणशक्ति की रक्षा करे (जीवनं बिन्दु-धारणात्)।

'निमिषतः' शब्द उसके दूसरे कर्तव्य का संकेत करता है। इसका सामान्य भाव यह है कि नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा नाना

प्रकार के व्यापार करने वाला। यहां चक्षु इन्द्रिय का व्यापार अन्य ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार का भी उपलक्षण है जीव ने पांचों ज्ञानेंद्रियों से ज्ञान को प्राप्त करना है, इसी से अथर्व में उसे 'पञ्चौदन" कहा गया है। "पञ्चौदनः पञ्चधा विक्रमताम्" यह पञ्चौदन जीव पांचों ज्ञानेन्द्रियों से विविध प्रकारों से ज्ञान के प्राप्त करने का यत्न करे, यह वेद का आदेश है।

२. (निमिषतो) जगतः

ज्ञानपूर्वक गति करने वाला यह प्राणिसमुदाय मनुष्य-जगत् कहलाता है। पशुओं की क्रियायें ज्ञानपूर्वक नहीं हुआ करतीं, उनमें परमेश्वर प्रदत्त Instinct (वासना) एक निश्चित-रेखा में कार्य करती चलती हैं। इसके विपरीत मनुष्य की प्रत्येक क्रिया सोच विचार कर हुवा करती है। चक्षुरादि के व्यापार में मानस-व्यापार भी अन्तर्गत ही समझना चाहिये। मनुष्य देख कर गति करता है—अर्थात् उसकी क्रिया ज्ञानपूर्वक होती है। 'यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' यह वाक्य उल्लिखित भाव को ही स्पष्ट कर रहा है।

३. राजा

परन्तु जीव अल्पज्ञता के कारण स्खलित होता है। ज्ञान या समझ की ग़लती के कारण उसकी क्रिया भी ग़लत हो जाती है। क्रिया की ग़लती का परिणाम शतशः कष्टों के रूप में प्रकट होता है। सो जीव को उन कष्टों से बचाने के लिये उसके हृदय में स्थित उसका मित्र ईश्वर उसे सदैव प्रकाश दिखाता रहता है

(राजयति=enlightens=illuminates), उसे सदा उत्तम प्रेरणा करता रहता है। यह ठीक है कि जीव उस प्रेरणा को अनसुना कर देता है प्राकृतिक चकाचौंध से चुंधियाई हुई उसकी आंखें ईश्वरप्रदत्त प्रकाश को नहीं देख पाती। परन्तु वह सच्चा मित्र धैर्य को न खो, अपने राजन=प्रकाशित करने के कार्य को करता ही रहता है।

४. महत्वा एकः इत्

यह शंका हो सकती है कि वह अकेला ईश्वर ब्रह्माण्ड में बिखरे मनुष्य-मात्र के हृदय को कैसे प्रकाशित करता होगा? इसका उत्तर देने के लिये ही 'महित्वा' शब्द का प्रयोग है। उसकी महिमा अनन्त है, वह विभु है, सर्वव्यापक है, सब के हृदयों में वर्तमान है। सो अकेला होता हुआ भी अपने महत्त्व Omnipresence के हेतु से वह मनुष्यमात्र का राजा है, उनके हृदयों को निरन्तर प्रकाशित कर रहा है। पर मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, इस स्वातन्त्र्य का वह दुरुपयोग भी कर बैठता है और अपने मित्र की आवाज़ को न सुन मनमाना किया करता है। यह स्वातन्त्र्य आवश्यक भी है। पूर्ण परतन्त्रता में उन्नति का संभव नहीं। स्वतन्त्रता की हानि को देख वह स्वतन्त्रता छीनी नहीं जासकती। उसके अभाव में जीव कभी मुक्त होने की योग्यता का उपार्जन न कर सकेगा।

५. द्विपदः, चतुष्पदः (पक्षी, पशु)

हां, जब कभी मनुष्य इस स्वतन्त्रता का बहुत ही दुरुपयोग

करने पर उतारू हो जाता है और अनर्थ-परम्परा को करने लगता है, तो उस स्थिति में थोड़े समय के लिये उसकी स्वतन्त्रता छीन लेनी आवश्यक हो जाती है। इसके लिये परमेश्वर उसे पशु पक्षियों की योनि में डाल देता है। वहां वह ज्ञानेन्द्रियों के होते हुए भी ज्ञानेन्द्रिय-प्रधान न होकर कर्मेन्द्रिय प्रधान होता है। मनुष्य के लिये 'निमिषतः' शब्द का प्रयोग किया था, जो कि आंख आदि ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार का संकेत करता था। यहां 'पद्' शब्द को प्रयुक्त किया गया है। पांव सभी कर्मेन्द्रियों के उपलक्षण हैं। पशु पक्षिओं ने परमेश्वर के द्वारा निहित Instinct=वासना के अनुसार कर्म करते जाना होता है, उनको सोचने का स्वातन्त्र्य नहीं है। वस्तुतः उन्हें परमेश्वर किसी चीज़ को भुलाने का प्रयत्न कर रहा है। मानव जीवन में जो अशुभ आदत दृढ़ मूल सी होगई थी, उसको दूर करने का इससे अधिक क्या उत्तम उपाय हो सकता है कि मनुष्य को बहुत देर तक उस चीज़ की स्मृति से दूर रखा जाय। मनुष्य को पशुयोनि में डाल कर मानो परमेश्वर उनको कुछ स्वप्न की अवस्था में ले जाकर परिवर्तित करना चाहता है।

६. ईशे

परन्तु क्या ये पशु पक्षी ज्ञान में मनुष्य से कम हैं? मनुष्य ने अपने ज्ञान से बहुत अधिक उन्नति करली तो यही तो

कि वह आकाश में उड़ने लगा। परन्तु क्या एक मक्खी भी उस उड़ने की क्रिया को उससे कहीं अधिक अच्छी प्रकार नहीं कर लेती ? क्या मनुष्य शहद की मक्खियों के समान निपुणता से फूलों से रस को लेकर उनकी तरह शहद का निर्माण कर सकता है ? क्या उनसे बनाये हुए छत्ते के षट्कोण घरों में बड़े से बड़ा गणितज्ञ भी ग़लती को निकाल सकता है ? मक्खियों की शासन व्यवस्था क्या मानव समाज के लिये अनुकरणीय नहीं है ?

इस प्रकार विचार करने से तो पशुपक्षी अधिक ज्ञानसंपन्न प्रतीत होते हैं, पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। इसी बात को मन्त्र में 'ईशो' शब्द से स्पष्ट किया गया है। यह सब ऐश्वर्य उस प्रभु का है। पशु पक्षिओं के अन्दर यह कौशल परमेश्वर के द्वारा Instinct के रूप में रखा गया है। वे वैद्य नहीं, पर बीमार होने पर स्वस्थ होने तक वे कुछ खाते पीते नहीं। कई पक्षी तो उचित जड़ी बूटी को लाकर उसका उपयोग भी करते हैं। यह सब उस ईश का ऐश्वर्य है। मानो वह अपने मित्र जीव को स्वातन्त्र्य छीनने के बदले में उत्तम सुन्दर वस्तुएं प्राप्त करा रहा हो ताकि वह स्वातन्त्र्य-हानि की पीड़ा को तो अनुभव न करे, पर अपनी अशुभ प्रवृत्तियों को भूल सा जाए।

७. कस्मै, देवाय०

इस प्रकार कुशलता से जीव के हित साधन में प्रसित= लगा हुआ वह परमेश्वर वस्तुतः आनन्द को अनुभव करता है।

उसका परार्थ-साधन जैसे निरपेक्ष (Absolute) है, उसी प्रकार उसका आनन्द भी निरपेक्ष है।

वह मानव हृदय को द्योतित कर रहा है। वह पशुओं के जीवन को भी एक विशेष ऐश्वर्य से दीप्त किये हुए हैं। इसीलिये वह देव (देवो द्योतनाद्वा दीपनाद्वा) है।

हम भी यदि अपने मस्तिष्क को ज्ञान से द्योतित कर औरों को वह ज्योति देने को अपना ध्येय बनाते हैं तो उस प्रभु की सच्ची उपासना करते हैं। जिस दिन हम अपने जीवन को ज्ञान के प्रसार में लगा देते हैं उस दिन से ज्ञानयज्ञ में हम अपनी आहुति दे रहे होते हैं तथा ज्ञानयज्ञ से उस प्रभु का समादर कर रहे होते हैं।

सूचना—मन्त्रों में द्विपद् चतुष्पद् शब्द का प्रयोग साथ २ कई बार हुआ है। ऐसे सब स्थलों में इस का अर्थ पशु पक्षी इस मुहावरे के अनुसार ही करना चाहिये।

ओ३म्

स्वयं ब्रह्म बनना

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजुर्वेद ३२. ६.

येन, द्यौः — जिसने, द्युलोक को (सूर्यादि पिण्डों से) ।

उग्रा, च — प्रचण्ड व देदीप्यमान (किया है), और ।

पृथिवी, दृढ़ा — भूमि को दृढ़ (बनाया है) ।

यः, अन्तरिक्षे, रजसः — जिसने, अन्तरिक्ष में, धूलिकणों को ।

वि-मानः — (आंधी आदि) विशेष प्रबन्ध द्वारा उपस्थित किया है ।

येन, स्वः — (और इस प्रकार) जिसने (वृष्टि के) जल बिन्दुओं को ।

स्तभितम् — धारण किया है, (तथा इस वृष्टि के द्वारा अन्न पैदा करके) ।

येन, नाकः— जिसने निश्चित सुख का (पोषण किया है)
कस्मै, देवाय— उस स्वयं आनन्दमय, सुख को देने वाले (प्रभु की)
हविषा — (अपने को भी इसी प्रकार बनाते हुए, परिपक्व करके, हवि के योग्य बनकर) आत्माहुति द्वारा।
विधेम — पूजा करें।

अध्यात्म पक्ष में--द्यौः=मस्तिष्क । उग्रा=ज्ञान ज्योति से दीप्त। पृथिवी=पांव या आचरण। दृढ़=मजबूत। स्वः=वीर्य। रजसः=रजोगुण=राग का। विमानः=उचित रूप में निर्माण करता है। अन्तरिक्षे=हृदयान्तरिक्ष में।

१. द्यौः उग्रा

इस मन्त्र में यह वर्णन है कि उस परमेश्वर ने जीव हित के लिये किस प्रकार त्रिलोकी का निर्माण किया, तथा जीव को उससे शिक्षा लेते हुए कैसा बनना चाहिये।

सब से प्रथम परमेश्वर ने नाना प्रकार के ज्योतिर्मय पिंडों से तीव्रता से जगमगाते हुए द्युलोक का निर्माण किया। वे ज्योतिर्मय पिण्ड केवल प्रकाश ही दे रहे होते तो 'उग्र' यह विशेषण बहुत उपयुक्त न होता। पर वस्तुतः वे पिण्ड प्रकाश के साथ ताप को भी दे रहे हैं, अपनी किरणों द्वारा प्राणशक्ति को भी हमें प्राप्त करा रहे हैं। यह प्राणशक्ति शरीर में रोग कृमियों

के ध्वंस के लिये उग्र रूप धारण करती है। सूर्य के प्रचण्ड ताप से वायुमण्डलस्थ कृमियों व दुर्गन्धादि का विनाश किया जा रहा है। एवं परमेश्वर ने द्युलोक को वस्तुतः ही उग्र बनाया है।

२. पृथिवी दृढ़ा

इस द्युलोक के अतिरिक्त उसने इस दृढ़ पृथिवी लोक का निर्माण किया है। यह पृथ्वी असंख्यात प्राणियों के भार को धारण किये हुए है। इस धारण करने की प्रक्रिया के कारण ही यह "धरा, धरित्री व धरणि" कहलाती है। इतना ही नहीं अन्तरिक्ष से वृष्टि के रूप में बरसते हुए अनन्तशरों के तथा ओलों के रूप में पड़ते हुए पत्थरों के प्रहारों को भी इसने सहन करना है। इसी से इसका नाम 'सर्व-सहा' तथा 'क्षमा' पड़ा है। (क्षमूष् सहने)।

३. अन्तरिक्षे रजसो विमानः

द्युलोक तथा पृथ्वी लोक के निर्माण के अतिरिक्त उस ईश्वर ने इन दोनों लोकों के मध्यभाग अन्तरिक्षे में रजसः= धूलि कणों का विमानः=विशेष रूप से निर्माण करते हुए स्वः= पानी को=वृष्टि बिन्दुओं को स्तभितम्-धारण किया है।

द्युलोक के उग्र सन्ताप वाले पिण्डों के ताप से भूमिस्थ जल का वाष्पी भवन होता है, वे जलवाष्प अन्तरिक्ष में मेघरूप से एकत्रित होते हैं। जिस समय वे वाष्प शीत के कारण पुनः घनीभूत हो द्रव के रूप में आते हैं उस समय उनको बिन्दुरूप

में होने के लिये केन्द्र में एक आधार की आवश्यकता होती है। परमेश ने इस आधार को प्राप्त कराने का बड़ा ही उत्तम प्रबन्ध किया है। रेतीले व पथरीले स्थानों के शीघ्र तप जाने से वहां का वायु उष्ण हो, हलका होकर, ऊपर उठता है और उसका स्थान लेने के लिये चारों ओर का वायु प्रबल वेग से चलता है। उस समय भूमि के शिथिल धूलिकण भी उस वायु के प्रबल प्रवाह में उड़ने लगते हैं, आंधियां आती हैं और विरुद्ध दिशाओं की वायुओं के संघर्ष से वात्या (बवण्डर) उठते हैं। उनके द्वारा धूलिकण अन्तरिक्ष में खूब ऊंचाई तक पहुंच जाते हैं, और उन जलबिन्दुओं का केन्द्रीय आधार बनने के लिये उपयोगी हो जाते हैं। इस प्रकार वृष्टि होकर पृथ्वी सेचन का विशाल प्रयोग प्रारम्भ होता है।

४. नाकः

इस वृष्टि के द्वारा धान्य की उत्पत्ति हो प्राणिमात्र को प्रसन्नता प्राप्त होती है। यह वृष्टि क्या होती है, प्राणशक्ति ही बरस रही होती है। उस समय जब कि वृष्टि द्वारा इस विस्तृत भूमि पर प्राण बरस रहा होता है, सब पशु आनन्दित होते हैं और कहते है कि अब हमारी वृद्धि निश्चय से होगी 'यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्। पशवस्तत् प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति=अथर्व ११-४-६)। ओषधियां इस प्रकार बरसते हुए प्राण से सिक्त होकर मानो बात चीत करते हुए धन्यवाद देती हैं कि तूने हमारी आयु को बढ़ाया है, हम सब को

सुगन्धित किया है। (अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन् आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः=अथर्व ११. ४. ६.)

वस्तुतः इस प्रकार एक विशेष प्रबन्ध द्वारा वृष्टि को करके ईश्वर प्राणिमात्र को निश्चित सुख प्राप्त करा रहा है। उसने उनके लिये "दुःख न हो, यही बात नहीं" अपितु अवश्य होने वाले निश्चित सुख का पोषण किया है।

५. कस्मै देवाय०

प्राणिमात्र के सुख का इस प्रकार अनुपम प्रबन्ध करने वाला वह प्रभु स्वयं क्यों न आनन्दमय हो ? सभी को द्युलोक के देदीप्यमान प्रकाश, पृथिवी की दृढ़ता तथा अन्तरिक्ष से वृष्टि के प्रबन्ध के द्वारा सुख को देने वाला वह प्रभु देव है (देवो दानात्) उसके लिये हम अपनी कृतज्ञता का प्रकाश व उसका आदर इसी प्रकार कर सकते हैं कि हम भी स्वयं उसकी बनाई हुई त्रिलोकी जैसा अपने को बनायें, और वैसा बन कर त्रिलोकी की तरह ही प्राणिमात्र को सुख पहुंचाने के व्रत को लेते हुए प्रजा-संरक्षण के यज्ञ में हवीरूप बन जांय।

६. स्वयंभु ब्रह्म

इस मन्त्र का ऋषि 'स्वयंभु ब्रह्म' है। इसका शब्दार्थ यह है कि "वह ब्रह्म जो स्वयं भी वैसा ही बनता है।" द्युलोक का प्रतीक शरीर में मस्तिष्क है (मूर्ध्नो द्यौः समवर्तत)। जैसे

द्युलोक को ब्रह्म ने तेजः पिण्डों से देदीप्यमान किया है इसी प्रकार जो मनुष्य अपने मस्तिष्क को ज्ञान ज्योति से देदीप्यमान करता है वह स्वयं भी ब्रह्म जैसा ही बनता है। सो मनुष्य का प्रथम कर्तव्य तो यह है कि वह अपने ज्ञान को विकसित करे।

पृथ्वी शरीर में पाद स्थानीय है (पद्भ्याँ भूमिः)। जिस प्रकार पृथ्वी को परमेश्वर ने दृढ़ बनाया है, उसी प्रकार गति करने वाले हमारे चरण दृढ़ हों, वे श्रम से थक जाने वाले न हों। कितनी भी मेहनत के बोझ को वे बरदास्त कर सकते हों। यदि हम अपनी पैर आदि कर्मेन्द्रियों को इस प्रकार 'अव्यथ्य'=न थकने वाला बनायेंगे तो हम स्वयं वैसा बन रहे होंगे जैसा कि परमेश्वर ने पृथ्वी को बनाया है। यहाँ पाद शब्द 'पद् गतौ' धातु से बनता है। गति=चलना=चाल ढाल= आचरण ये सब पर्याय हैं। सो पाद शब्द आचरण का वाची होकर हमें अपने आचरण को दृढ़ बनाने का संकेत भी कर रहा है Strength of character आचरण की दृढ़ता मानव उत्कर्ष के लिये आवश्यक है।

'स्वः' शब्द आपः=जल का वाचक है। ये जल शरीर में वीर्य रूप हो कर प्रविष्ट होते हैं (आपः रेतो भूत्वा०)। तो पुरुष का कर्तव्य है कि जैसा ब्रह्म ने जलों को धारण किया है उसी प्रकार वह शरीर में वीर्य का धारण=स्तम्भन करे। और यह वीर्य का अपव्यय न करने वाला पुरुष ही तो अपने अन्दर

'नाकः'=निश्चित सुख का पोषण कर सकता है। निश्चित सुख उसी को प्राप्त हो सकता है जो कि संयम से अपनी शक्ति को सुरक्षित रखता है। यहां वीर्यरक्षा से सुखप्राप्ति का कितनी उत्तमता से प्रतिपादन है। यही शक्ति है, इसी ने सब कुछ करना है। शक्ति के अभाव में जीव क्या कर सकेगा? वह तो चाहते हुए भी कुछ करने में समर्थ न होगा। एवं यह शक्ति का संयम ही सभी पुरुषार्थों का मूल है।

७. राग व काम भी क्या पुरुषार्थ है

पुरुषार्थों में काम की भी गणना है। क्या यह काम भी पुरुष के लिये चाहने योग्य है? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र में इस प्रकार देते हैं कि यह 'स्वयम्भु ब्रह्म' अपने हृदयान्तरिक्ष में रजसः=रजोगुण का=राग व काम का विमानः=उचित रूप में निर्माण करता है। इस उचित रूपता का स्पष्टीकरण मनु ने इस प्रकार किया है कि "कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्य-कामता। काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः"=काम में फंस जाना=इच्छामय हो जाना=नाना प्रकार की वासनाओं में उलझ जाना तो कभी भी वाञ्छनीय नहीं। परन्तु इस संसार में काम शून्यता भी नहीं हो सकती, काम व राग के अभाव में तो मनुष्य वेद पढ़ने व वैदिक कर्मयोग के पालन की कामना=रुचि वाला भी क्यों कर होगा? इसी औचित्य को वेद में "वि" शब्द व्यक्त कर रहा है। कामना को विशिष्ट प्रकार से हृदय में जागरित करता हुआ ही पुरुष अपने मस्तिष्क को द्युलोक

के समान ज्ञानज्योति से द्योतित करेगा, और वही पुरुष अपनी कर्मेन्द्रियों को अनथक काम करने वाली बना पायेगा ।

८. आहुति

अस्तु, इस प्रकार त्रिलोकी का अनुकरण करते हुए स्वयं अपना विकास=वर्धन करने वाला यह व्यक्ति "स्वयम्भु ब्रह्म" बना है। अपना विकास व शक्तियों का परिपाक कर आज यह भी परमेश्वर की तरह प्राजापत्य यज्ञ में, "यदि श्रातं जुहोतन" (यदि अपना परिपाक कर चुके हो तो आहुति दे डालो) इस वेद वाक्य के अनुसार अपनी आहुति देने को तय्यार होगया है, इसी प्रकार तो वह अपने प्रभु का आदर करेगा। यही तो प्रभु की पूजा है।

ओ३म

सर्व-रक्षक प्रभु

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

ऋग्वेद १०. १२१.

प्रजापते — प्रजा के रक्षक प्रभु ?

एतानि, तानि — इन, (और) उन अर्थात समीप और दूर वर्तमान

विश्वा — संसार में प्रविष्ट

जातानि — (भिन्न २ योनियों में) प्रादुर्भूत हुए २ (प्राणियों की)

त्वत् , अन्यः — तेरे से, भिन्न (कोई भी और)

न परिबभूव — रक्षा करने वाला नहीं है ।

यत् कामाः — जिस २ पदार्थ की कामना वाले (होकर हम)

ते जुहुमः — तेरी, आराधना करते हैं

तत् ,नः अस्तु — वह, हमें, प्राप्त होता है ।

वयम् — हम (उत्तमकर्म तन्तु का विस्तार करने वाले)

रयीणाम् — धनों के

पतयः — मालिक, (नकि दास)

स्याम — हों

सूचना

वयं शब्द का कोषान्तर्गत अर्थ वेञ् तन्तुसन्ताने धातु से बना कर किया गया है।

१. मन्त्र का ऋषि

इस मन्त्र का ऋषि 'हिरण्यगर्भ प्राजापात्य' है। प्रजापति शब्द से स्वार्थ में ण्यत् करके बना हुआ यह प्राजापत्य शब्द प्रजापति के अर्थ को ही बलपूर्वक कह रहा है। हिरण्यगर्भ का अर्थ है ज्ञानमय। एवं इस मन्त्र के ऋषि का अभिप्राय हुआ 'ज्ञानमय प्रजापति'। जो जितना भी ज्ञानी होता है, वह उतना ही प्राजापत्य यज्ञ का करने वाला होता है। ज्ञान व लोकसंग्रहशीलता में समानुपात-सम्बन्ध है। परमेश्वर पूर्ण-ज्ञानी है सो पूर्णरूप से प्रजारक्षक है।

२. प्रजापते

वस्तुतः तो ठीक २ परमेश्वर ही प्रजापति कहलाने के योग्य है। हे प्रजापते तेरे से भिन्न कोई भी इस ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट व प्रादुर्भूत हुए २ प्राणियों को पालने वाला नहीं है। तू ही ठीक २ इनकी फिक्र चिन्ता व ध्यान करने वाला है। (परि-भू=

to take care of=फ़िक्र करना) तेरे से भिन्न जितने भी रक्षक हैं=फ़िक्र करने वाले हैं, उन सब का फ़िक्र करना थोड़े बहुत स्वार्थ को लिये हुए होता है। माता पिता पुत्र की फ़िक्र करते हैं चूंकि उनको उसकी बालसुलभ चेष्टाओं से आनन्द मिलता है तथा उन्हें आशा होती है कि वार्धक्य में वह उनका सहारा बनेगा। एक अध्यापक विद्यार्थी के हित का ध्यान करता है चूंकि उसे उसका पारश्रमिक मिलना होता है-यही हेतु वैद्य के रोगी के फ़िक्र करने में है।

इसके अतिरिक्त जितने भी संसार में बन्धु बान्धव रिश्तेदार हैं, उन सब का साथ सामयिक होता है। अधिक से अधिक श्मशान में चिता पर जलाने तक वह सीमित है, उसके बाद उनका सन्बन्ध हो समाप्त हो जाता है। मित्रों का स्नेह भी अन्ततो गत्वा यहीं तक है। अर्धांगिनी होते हुए भी भार्या का सम्बन्ध भी इस समय के बाद नहीं रह जाता। परन्तु उस प्रजापति से तो जन्म जन्मान्तरों में भी सदा जीव की फ़िक्र की ही जाती है। उस प्रभु की रक्षा समय से सीमित नहीं है।

यह भी बात है कि तेरे से भिन्न अन्य सहायक=रक्षक लोग अपने ज्ञान की न्यूनता के कारण उतनी ठीक २ फ़िक्र कर भी नहीं सकते जितनी कि करनी चाहिये। कई बार वे मोहवश भले के लिये करते हुए भी वस्तुतः बुरा ही कर बैठते हैं। ज्ञान की न्यूनता लाभ के स्थान में हानि का कारण हो जाती है।

उनकी दया क्रूरता प्रमाणित होती हैं। परन्तु हे प्रजापते तू तो हिरण्यगर्भः=ज्ञानघन=ज्ञान ही ज्ञान है। तेरा ज्ञान निरपेक्ष हैं, पूर्ण है। अतएव प्रजामात्र का तेरा हितचिन्तन भी पूर्ण है। तू वस्तुतः ही प्रजापति है, प्राणिमात्र का रक्षक है।

३. यत् कामाः

जैसे एक पिता के कई बालक होते हैं, वे यदि भिन्न २ पदार्थों की कामना से पिता के समीप पहुँचते हैं, तो पिता उनकी एकदम अन्याय्य कामना को छोड़ कर सभी कामनाओं को पूरा करने का यत्न करता है। खिलौने के इच्छुक को खिलौना, गेंद के चाहने वाले को गेंद, पेन्सिल की कामना वाले को पेंसिल, पुस्तक की आवश्यकता वाले को पुस्तक तथा वस्त्र के मांगने वाले को वस्त्र देता है। ठीक उसी प्रकार प्रभो! आप भी हम सब प्राणियों को, आयु, प्राण, प्रजा, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस आदि काम्य पदार्थ प्राप्त कराते हो। स्वर्ग स्वाराज्य व पारमेष्ठ्य आदि की कामना वाले होकर जब हम तेरे देह स्वरूप किसी देवता की उपासना करते हैं, तो उस समय वह काम्य पदार्थ आप ही तो प्राप्त कराते हैं। (कामैस्तैस्तैर्हृत-ज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। गीता ७।२०। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान्हितान् ७।२२)

हाथ पैर हिलाना तो आवश्यक है। बस हम पुरुषार्थ करते हैं तो आप हमारी इच्छा को अवश्य पूर्ण कर देते हैं। यह तो

आपने एक सामान्य नियम बता दिया है कि "कृतं मे दक्षिणे हस्ते, जयो मे सव्य आहितः"—पुरुषार्थ करो कार्यसिद्धि अवश्य होगी। अकर्मण्य को तो फल प्राप्त कराना कोई दया नहीं है प्रत्युत उसे और अधिक आलसी बना देना है। "कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ"—काम करने के लिये ही आपने हाथ दिये हैं, और इस प्रकार स्पष्ट संकेत कर दिया है कि 'कर्म कर तो मैं तेरी कामना को अवश्य पूर्ण करूंगा' आप सचमुच हमारे पिता हैं, हम आपके पुत्र हैं। आप हमारी न्याय्य कामनाओं को पूर्ण कराने वाले हैं।

४. जुहुमः

संसार में सामान्यतः सब प्राणी सकाम हृदय से ही विविध देवताओं की आराधना के उद्योग में लगे हुए हैं। हे प्रभो! वे सब देव भी तेरे ही तो शरीर हैं, सो उन देवों की उपासना भी परम्परया तेरी ही उपासना होती है। कामना को पूर्ण करने वाला तो तूही होता है। उस २ देव में सुख प्राप्त कराने की शक्ति तूने ही रखी होती है।

विविध देवों की उपासना द्वारा विविध फलों को पाकर भी मनुष्य अन्ततोगत्वा अनुभव यही करता है कि इनसे उस को तृप्ति का अनुभव नहीं होता। तृप्ति का अनुभव तो दूर रहा, होता तो यह है कि उन काम्य पदार्थों की तृष्णा और अधिक बढ़ जाती है। मनु के शब्दों में उपभोग से कामना शान्त न

होकर, घृत की आहुति से अग्नि की तरह, और अधिक प्रवृद्ध हो उठती है । ("न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते)। वे काम्य पदार्थ हमारे सुख का साधन क्या बनते हैं। वे तो हमारे क्षय का हेतु हो जाते हैं। भतृहरि के शब्दों में "भोगा न भुक्ताः, वयमेव भुक्ताः"– हम भोगों को नहीं भोगते, अपितु हम ही भोगों के शिकार बन जाते हैं। तृष्णा को बढ़ा कर हमारी अशान्ति के वे मूल होते हैं।

५. वयं पतयः स्याम

हमारे वे सेवक नहीं रहते, हम उनके सेवक बन जाते हैं। धन को अधिकाधिक संचित कर उसकी उपासना हमारा काम हो जाता है । हम क्या धन के मालिक रहते हैं, धन ही हमारा मालिक हो जाता है। हम उसके स्वतन्त्रता शून्य दास से होते हैं, हमारा सारा धर्म कर्म समाप्त हो जाता है। जिस किसी भी प्रकार धन का संचय ही हमारा काम होता है। चौबीसों घण्टे इसी काम में जाते हैं। न पारिवारिक सुख न आत्मिक उन्नति, न चित्त की शान्ति और न अन्य कोई सुख। बस रुपया ही रुपया हमारी रट होती है, उसी की सेवा में सारी आयु बीत जाती है। उस समय उससे पार्थक्य में हमें दुःख अनुभव होता है। उसके मिथ्यात्व का आभास होने लगता है।